

शिक्षक, शिक्षा और समाज

□ नवल किशोर सोनी

स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व और उसके बाद भारतीय जनमानस की यह अपेक्षा थी कि स्वतंत्रता मिलते ही हमारी सभी समस्याओं का समाधान स्वतः ही हो जायेगा, परिवर्तन तथा विकास के द्वार खुल जायेंगे। 15 अगस्त, 1947 को हम आजाद हो गये। देश में एक बड़ा परिवर्तन आया। अपेक्षा की गई कि कुछ इसी प्रकार का परिवर्तन अन्य समस्याओं के लिए भी होगा। लेकिन विडम्बना यह रही कि यह त्वरित गति अन्य क्षेत्रों में निष्पादित नहीं की जा सकी। शिक्षक सहित शिक्षा के क्षेत्र में भी तत्काल परिवर्तन अपेक्षित था किंतु मंथर गति से परिवर्तन की नीति के परिणाम स्वरूप शिक्षा समस्याएं उलझती चली गईं। दिशाहीन व अधकचरे परिवर्तनों का कोई लाभ नहीं हुआ।

शिक्षा की कार्ययोजना की विफलता के लिए वह वर्ग जिम्मेदार है, शिक्षा और समाज की यथास्थिति में जिसके निहित स्वार्थ हैं। इस वर्चस्वशाली वर्ग को निरन्तर भय बना रहता है कि शिक्षा अथवा समाज में किसी भी बड़े परिवर्तन से उसके अनुचित विशेषाधिकार छिन जायेंगे। इस यथार्थ से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि शिक्षा के राजनीतिकरण के परिणाम स्वरूप भी शिक्षा समस्याएं और उलझी हैं। कदाचित समाज भी अपने पुरानपंथी स्वार्थों व परम्पराओं से चिपके रहने के कारण बड़े परिवर्तनों के प्रति उदासीन ही रहा है।

शिक्षक और समाज का अब तक का जो संबंध प्रत्यक्षतः दिखाई देता है वह ऐसा दिखता है जैसे शिक्षक समाज पर हावी है जबकि यह भ्रम मात्र है। वस्तुतः स्थिति बिल्कुल इसके विपरीत है। अब तक समाज परोक्षतः शिक्षक पर हावी रहा है। और वह शिक्षक से यह काम लेता रहा है कि पुरानी सामाजिक मान्यताएं, पुराने विचार चाहे वे ठीक हों या गलत हों, आने वाली पीढ़ियों के मन में शिक्षक इनका प्रवेश करा दे। सदियों से समाज जिन बीमारियों से ग्रस्त था उन बीमारियों को समाज शिक्षक के माध्यम से संक्रमित करता रहा है। ये सब इसलिए कि समाज का जो ढांचा

है, जिससे उसके स्वार्थ सिद्ध हो रहे हैं, वह बना रहे। शायद इसीलिए समाज शिक्षक का आदर और सम्मान करता रहा है और इसीलिए उसे 'गुरु ब्रह्म : गुरु विष्णु :' कहा गया है। पुरानी पीढ़ी की जो अंध श्रद्धाएं हैं वह सब पुरानी पीढ़ी नयी पीढ़ी पर थोप देना चाहती है। अपने शास्त्र, अपने गुरु, अपनी इच्छा व अपना झगड़ा तक। यह काम वह शिक्षक से लेती रही है।

परिणाम स्वरूप आने वाली पीढ़ियों में चेतना का हास होता चला जा रहा है। जब तक हम आने वाली पीढ़ियों को अतीत के भार, निरर्थक मान्यताओं, रूढ़ियों और पुराने विचारों से मुक्त नहीं करेंगे तब तक उनका मानसिक विकास भी अपूर्ण ही रहेगा क्योंकि एक छोटे से बच्चे पर पीढ़ियों के संस्कारों का भार है। उस

भार से उसका व्यक्तित्व उभरना असंभव है। प्रत्यक्षतः देखा जा सकता है कि हमारे जितने भी महापुरूष हुए हैं और उन्होंने जो भी कहा है हम उससे आगे विचार नहीं करते। अपने धार्मिक ग्रन्थों से आगे सोचने की जहमत नहीं उठाते। आखिर क्यों? क्योंकि इस बात की सदियों से कोशिश चल रही है कि आने वाली पीढ़ियां, आने वाले बच्चे इन सब से आगे न निकल जाये। वे बस जो कुछ है उस पर विश्वास करते रहे। समाज में इसकी कई व्यवस्थाएं

हैं। समाज अपना अपमान समझता है अगर हम अपने महापुरूषों अथवा महान ग्रन्थों से आगे विचार करते हैं या सोचते हैं। वह चाहता है कि कोई बच्चा विचार न करे, वह बस जो कुछ हम कह रहे हैं या हमारे ग्रंथ कह रहे हैं उस पर विश्वास करता रहे। जबकि विश्वास और विचार की दिशाएं कई बार विरोधी होती हैं।

ग्रन्थों को स्वतः प्रमाण मानकर चलने की प्रवृत्ति भारतीय समाज में कूट-कूट कर भरी हुई है। कहीं भी कोई बात करो तुरन्त धार्मिक ग्रंथों की उक्तियों को दृष्टांत के रूप में प्रस्तुत कर दिया जाता है।

जबकि मैं तथ्यों सहित कहना चाहता हूं कि ग्रन्थों को स्वतः प्रमाण मानने से दुनिया में बहुत अत्याचार हुए हैं। गैलिलियो की

वह दुर्गति नहीं होती यदि 'बाइबिल' को स्वतः प्रमाण नहीं माना जाता। ग्रीक तत्ववेत्ताओं के परिश्रम ग्रंथ जिस सिकन्दरिया के पुस्तकालय में सुरक्षित थे, उनको जलाकर राख नहीं किया जाता यदि मुसलमान विजेता कुरान को स्वतः प्रमाण नहीं मानते। ग्रंथों को स्वतः प्रमाण मानना जिज्ञासा को रोक देना है जबकि जिज्ञासा ही दुनिया के बड़े बड़े वैज्ञानिक अविष्कारों का कारण बनी है। यदि गैलिलियो बाइबिल के कहे अनुसार पृथ्वी को चपटा मान लेता तो उसे पृथ्वी के घूमने के नियमों का कहां से पता लगता। यहां जोर इस बात पर है कि जब तक हम आने वाली पीढ़ियों को, बच्चों को, समाज को रूढ़ विश्वासों से मुक्त नहीं करेंगे, पुरानी पीढ़ियों द्वारा छोड़ी गयी वसीयतों से आगे सोचने को प्रेरित नहीं करेंगे तब तक उनमें मानसिक शक्ति का विकास नहीं होगा। हम सब जानते हैं कि 'विश्वास' के अंधेरे में जीने वाले लोग धीरे धीरे विचार के आलोक में आने में ही असमर्थ हो जाते हैं और फिर वे अंधविश्वासी लोग अपने बच्चों को भी अंधेरे में ही दीक्षित कर देना चाहते हैं।

कोई भी विकासशील सृजनात्मक प्रक्रिया भविष्य की ओर उन्मुख होती है, जबकि हम कोई सृजनात्मक कार्य करने लगते हैं तो सर्व प्रथम हमारे अतीत को टटोलते हैं। हमारी शिक्षा और शिक्षक सामान्यतः अतीत की ओर उन्मुख हैं। हमारे सारे आदर्श और सिद्धांत अक्सर अतीत से लिए जाते हैं और समाज के ठेकेदार धर्म के ठेकेदार तथा राजनीतिज्ञ इन सबको शिक्षक के माध्यम से बच्चों में संक्रमित करते आ रहे हैं। और आश्चर्य इस बात का है कि शिक्षक को इन सबका कोई बोध नहीं है। यदि है तो उसमें विरोध नहीं है। कुछ शिक्षक अपने आप को 'गुरुः ब्रह्माः गुरुः विष्णु' समझे बैठा है। कुछ को पता ही नहीं है कि सेवा के नाम पर उनका शोषण हो रहा है। धर्म के ठेकेदार अपनी धारणाओं को चाहे वे सत्य हों या असत्य बच्चों में उस उम्र में प्रवेश करा रहे हैं जिसमें उनका अपना सोच विकसित नहीं होता।

हम बच्चों को सिखाते हैं कि आपस में प्रेम करो, सहयोग करो, जबकि हमारी पूरी शिक्षा व्यवस्था प्रतियोगिता पर आधारित है। यह बड़ी विरोधाभासी बात है क्योंकि प्रतियोगिता तो ईर्ष्या का रूप है। फिर जहां प्रतियोगिता होगी, ईर्ष्या होगी, वहां प्रेम कैसे हो सकता है? यह जो समाज बन रहा है, यह हिंसा, पीड़ा

और दरिद्रता तथा गला काट प्रतियोगिता कहां से आ रही है? जरूर हमारी शिक्षा व्यवस्था में कोई बुनियादी भूल है, जरूर हमसे कहीं चूक हो रही है। लेकिन यह विडम्बना ही है कि इन सब पर विचार व चिंतन करने के बजाय हम चिंता कर रहे हैं विद्यार्थियों के अनुशासन हीन हो जाने की। हमारा समग्र चिंतन इस बात में उलझा हुआ है कि बच्चों को 'डिसिप्लेन' में कैसे लाया जाये।

चूंकि बच्चों ने हमारे पैर छूना बन्द कर दिया है, हमारे सामने हाथ जोड़ना बन्द कर दिया है और जो बालक यह सब करता है उसे हम अनुशासित कहते हैं। हमारे बनाये हुये तथा थोपे हुए नियमों का (जिनमें बच्चों की कोई सहमति नहीं है) पालन करने वाला अनुशासित है। हम चाहते यह हैं कि बच्चे हम कहें या शिक्षक कहें वो ही करें, उसे ही मानें। उनका अपना कोई चैतन्य न रह जाये। कोई होश, कोई विचार, कोई विवेक न रह जाये।

तो मैं कहना यह चाहता हूं कि हमारी शिक्षा समाज के पारंपरिक ढांचे को मजबूत करने के लिए ही व्यवस्थित की गई है, उसे तोड़ने के लिए नहीं। इसमें समाज में प्रचलित ढांचे के सभी स्वार्थ स्वीकृत कर लिये गये हैं। हम अगर एक नये समाज की रचना करना चाहते हैं तो हमें सारी शिक्षा व्यवस्था पर पुनर्विचार करना होगा। शिक्षा से सारी प्रतियोगिता, प्रतिस्पर्धा को निकालना होगा। बच्चों को स्वानुशासन के लिए प्रेरित करना होगा, जो थोपा हुआ न होकर स्वयं बच्चों के विवेक से पैदा हुआ।

निष्कर्षतः मेरा मानना है कि समाज जैसा है या समाज की जो मान्यता है, विश्वास है, परम्परा है उन सबका विश्लेषण करके ही परिवर्तन की दिशा में बढ़ा जा सकता है। निश्चित ही समाज की रूढ़ व्यवस्था, कठोर ढांचा, पारंपरिक मान्यताओं पर पुनर्विचार की प्रक्रिया कठिन होगी। क्योंकि खुद हमारे मन में ही समाज की इस व्यवस्था के ठीक होने का भाव रहता है। जब हम लोग जिन्दगी के बाबत आलोचनात्मक चिन्तन करेंगे तो हम सारे समाज को रूपान्तरित करने की शुरुआत कर सकेंगे। शिक्षक कहलाने के लिए तो यह एक अनिवार्य शर्त की तरह है।◆

ग्रन्थों को स्वतः प्रमाण मानकर चलने की प्रवृत्ति भारतीय समाज में कूट-कूट कर भरी हुई है। कहीं भी कोई बात करो तुरन्त धार्मिक ग्रंथों की उक्तियों को दृष्टांत के रूप में प्रस्तुत कर दिया जाता है।